देश में जनादेश का संदेश

नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में दूसरी बार गुजरात सरकार के गठित होने पर यह लेख लिखा गया और जनसत्ता में छपा

भारत में जनतंत्र बहुत लंबे संघर्ष के बाद स्थापित हुआ है। जनतांत्रिक व्यवस्था में जनादेश का बहुत महत्त्व होता है। जनादेश को समझने में हुई चूकों की भारी कीमत समाज को चुकानी पड़ती है। यह कीमत तब और बढ़ जाती है जब ऐसी चूकें जान-बूझकर की जाती हैं। कई राजनीतिक दल लोगों को भरमाने और अपने राजनीतिक 'मतलब' के लिए ऐसी चूकें जान-बूझकर करते हैं। मूल बात यह है कि जनतंत्र में प्राप्त जनादेश कभी भी नि:शर्त नहीं होता है। जनादेश की शर्तें संविधान तय करता है। आजकल, भारतीय जनतंत्र में जनादेश की कई व्याख्याएँ संवैधानिक शर्तों की अवहेलना करती हुई प्रतीत होती है। जनतंत्र के लिए – राजनीतिक दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी – यह अशुभ लक्षण है ।

कहने की जरूरत नहीं है कि जनतंत्र में चुनाव से प्राप्त जनादेश मूलत: अस्थाई ही होता है। इस अस्थाई जनादेश के कई प्रभाव चिरस्थाई होते हैं। गुजरात के जनादेश को पढ़ने में होनेवाली चूक का खामियाजा देश को स्थाई रूप से भोगना पड़ सकता है। गुजरात के जनादेश का एक पाठ राजनीतिक है, तो दूसरा पाठ सांस्कृतिक और सामाजिक भी है। राजनीतिक दल अपने हित साधन के लिए इसका राजनीतिक पाठ तैयार कर रहे हैं। हमारी चिंता इस जनादेश के सांस्कृतिक और सामाजिक पाठ को लेकर है। यह चिंता इसलिए है

कि सांस्कृतिक और सामाजिक ढाँचों और अंतर्वस्तु पर गुजरात के जनादेश का चिरस्थाई प्रभाव आशंकित है। ध्यान में रखना होगा कि गुजरात का यह चुनाव सामान्य परिस्थति में नहीं हुआ है। यह असामान्य परिस्थिति धर्मनिरपेक्षता और संप्रदायवाद की उपलब्ध राजनीतिक अंतर्वस्तु के लगभग पूर्ण ध्रुवीकरण से उत्पन्न हुई है। विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच संबंधों के अलावे, धर्मनिरपेक्षता और संप्रदायवाद का एक पहलू सामाजिक विन्यास के गैर-सवर्ण और सवर्ण पक्ष से भी जुड़ता है। वस्तुत: भारतीय सामाजिकताओं में धर्मनिरपेक्षता और संप्रदायवाद का ऐतिहासिक द्वंद्व रहा है। धर्मनिरपेक्षता सिर्फ 'सेकुलरज्मि' का अनुवाद न होकर आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए हुए दीर्घ सामाजिक संघर्ष से प्राप्त एक भारतीय अनुभव भी है। इस अनुभव का विस्तार बाहरी उपनिवेश से मुक्ति और आधुनिक भारतीय राष्ट्र के गठन के लिए हुए जनसंघर्ष तक है। राजसत्ता पर इसलाम के माननेवालों के आरोहण के बाद इस द्वंद्व में नये आयाम और नई तीव्रता का जुड़ाव हुआ था। धर्मनिरपेक्षता की चुनौती के रूप में इस नये आयाम का संदर्भ हिंदु-मुसलमान के सामाजिक बरताव के लिए मानवीय आधार की तलाश से बनता है। धर्म पर आधारित भारतीय समाज की संरचना से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष संरचना को आज घातक चुनौती मिल रही है। धर्म पर आधारित भारतीय समाज की संरचना का बड़ा अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित है। हिंदु मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए 'राम' और 'रहीम' के एक होने की बात पहले भी कभी सवर्ण चेतना का अंग नहीं बन पाई। आज भी हिंदु-मुसलमान के बीच कटुता बढ़ानेवालों में सवर्ण सक्रियता अलक्षित नहीं है। क्या यह महज संयोग है? या इसके पीछे सक्रिय सामाजिक-आर्थिक संरचना के यथार्थ की एकतानता भी है? परीक्षा की जानी चाहिए। गुजरात के इस चुनाव में धर्मनिरपेक्षता के लिए ऐतिहासिक रूप से एकतान संघर्षशील गैर-सवर्ण चेतना के बड़े भाग के संप्रदायवाद के पक्ष में चले जाने से यह ध्रुवीकरण बना। सवर्ण चेतना के राजनीतिक रथ में गैर-सवर्ण चेतना के राजनीतिक नेतृत्व के बार-बार जुत जाने से भारतीय राज्य की धर्मनिरपेक्ष संरचना को बचानेवाले प्रभावी और वास्तविक विकल्प के बनने का काम मुश्किल होता जा रहा है।

इस मुश्किल की जटिलताओं को ठीक से समझे बिना गुजरात के जनादेश का सामाजिक पाठ तैयार नहीं हो सकता है। ध्यान में यह भी रखना चाहिए कि गुजरात के जनादेश के बाद ही तेजी से 'हिंदु राष्ट्र' की राजनीतिक अवधारणा के तोड़ के रूप में 'दलित राष्ट्र' की अवधारणा फिर उभर रही है। इतिहास की ओर नजर डालें तो द्विराष्ट्रीयता के जन्म के समय 'दलित राष्ट्र' जैसी अवधारणा भी प्रकट हुई थी। 'दलित राष्ट्र' की अवधारणा को स्थगित करवाने में उस समय सफलता मिली थी। यह सफलता इसलिए मिली थी कि धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के राजनीतिक आश्वासन के सामाजिक प्रतिफलनों को, परखे जाने तक, भरोसा करने के काबिल मानने का अवसर बचा हुआ था। याद किया जाना चाहिए कि सांप्रदायिक मामले में अगस्त 1932 के मैकडोनल्ड प्रस्ताव में दलितों के लिए अलग निर्वाचक मंडल के मुद्दे पर गाँधी जी के आमरण अनशन के कारण एक समझौता (पूना समझौता) हुआ था। इस समझौते के अनुसार हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचक मंडल बने रहे और दलितों के लिए सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था आज भी लागू है।

सामाजिक न्याय के आश्वासन को आरक्षण के प्रावधानों से ही सीमित कर देना सामाजिक न्याय की मानवीय आकांक्षा का अपचालन ही साबित हुआ है। इस अपचालन का बहुत बुरा प्रभाव भारतीय सामाजिकताओं पर पड़ा है। बाद के दिनों में आरक्षण को सामाजिक अन्याय से आपातकालीन राहत न मानकर इसे वोट की युक्ति से ही देखा गया। आरक्षण के प्रावधान सामाजिक अन्याय की क्षतिपूर्ति के लिए तो कुछ हद तक कारगर हो सकते थे, क्षति की प्रक्रिया को समाप्त करने का आधार नहीं बन सकते थे। सामाजिक अन्याय को संभव बनानेवाली सामाजिक प्रणाली को समाप्त करने के लिए अतिरिक्त प्रयास अपेक्षित थे। ये प्रयास नहीं किये गये। इसकी आशंका तब भी व्यक्त की गई थी। गॉधीजी जी का प्रयास सामाजिक सुधार तक ही सीमित थ। उस

सामाजिक सुधार में किसी भी प्रकार की आर्थिक माँगों के लिए कोई जगह नहीं थी। इसके साथ ही गाँधी जी ने समग्र रूप में जाति-व्यवस्था का विरोध नहीं किया। 1926 में प्रकाशित 'वर्णाश्रम धर्म' में व्यक्त उनके विचार थे, ''अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जायेगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जायेगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जायेगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।'' उनका विचार ''अस्पृश्यता'' के खत्म होने पर टिका हुआ था। लेकिन इस ''अस्पृश्यता'' खत्म होने के आर्थिक संदर्भों को वे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। आंबेदकर ने तब बहुत ही ब्यथा के साथ साप्ताहिक 'हरिजन' के लिए संदेश देने से इस आधार पर मना कर दिया था कि ''जाति-व्यवस्था को नष्ट किये बिना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है''। इस उद्धार का आशय सामाजिक और आर्थिक दोनों था।

असल में यह तथ्य तब भी अलक्षित नहीं था कि 'वर्णव्यवस्था', जन्म के आधार पर ही सही, श्रम-विभाजन का नहीं श्रमिक-विभाजन का ही आधार बनाता है। बावजूद इसके, राज्य के अंत:करण में धर्मनिरपेक्षता के बरताव का आग्रह बने रहने तक सामाजिक न्याय के भी देर-सबेर हासिल होने की संभावना में कुछ जान बची हुई थी। अब नई आर्थिक परिस्थिति में 'हिंदु राष्ट्र' की अवधारणा के सक्रिय होने से सामाजिक न्याय पूर्णत: अरक्षित हो गया है। क्योंकि सामाजिक अन्याय की बुनियाद तो इसी हिंदु व्यवस्था के सामाजिक आचरण में विन्यस्त रही है। आंबेदकर ने 'क्रांति और प्रतिक्रांति' में भारतीय सामाजिकताओं के संदर्भ में कहा था कि भारत में 'ब्राह्मण भारत', 'बौद्ध भारत' और 'हिंदु भारत' अलग-अलग रहे हैं। इन से जुड़ी तीन संस्कृतियों की

त्रिधाराओं के प्रवाह का अस्तित्व रहा है। वर्णव्यवस्था के कारण भारत की सामाजिकता आत्मविभक्त रही है। ऐसे में दलित राष्ट्र की अवधारणा भी कम खतरनाक साबित नहीं होगी। 'हिंदु राष्ट्र' की अवधारणा हो या उसकी प्रतिनिर्मिति 'दलित राष्ट्र' की अवधारणा हो, ये दोनों ही आत्मविभक्त भारतीय सामाजिकता की दरार को अधिक चौड़ा और तीखा बनानेवाली अवधारणाएँ ही हैं। यह 'हिंदु भारत' आत्म-विखंडन से लहुलुहान भारतीय सामाजिकता के एक बनने की दिशा में बढ़ने के रास्ते का सबसे बड़ा अवरोध रहा है। यह अवरोध आज उठान मार रहा है। 'गुजरात' को अगर पूरे भारत में उठाने का प्रयास किया जायेगा तो उसके सामाजिक पाठ को इस ढंग से भी समझना जरूरी होगा।

उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में बने आर्थिक परिवेश में तेजी से समृद्ध हो रहे भारतीय प्रदेशों में गुजरात अग्रगण्य है। यह बात सिर्फ दृश्य आर्थिक ढाँचों के विकास से ही नहीं पैसों के अदृश्य प्रवाह से भी समझी जानी चाहिए। गुजरात सीमावर्ती राज्य है। गुजरात की संवेदनशीलता का एक पहलू सीमा की संवेदनशीलता से भी जुड़ता है। इस चुनाव में गुजरात की अस्मिता की बात बहुत जोरदार ढंग से उठाई गई। इस 'अस्मिता तत्त्व' की अनदेखी करने से हम भटक सकते हैं। इस 'अस्मिता तत्त्व' में घनघोर प्रादेशिकता स्वत: समाहित है। क्योंकि इस 'गुजराती अस्मिता' को 'भारतीय अस्मिता' से अलग और भिन्न पहचान पर आधारित होने की आकांक्षा से भी परहेज नहीं है। ध्यान में रखना ही चाहिए कि किस प्रकार भारतीय जनता पार्टी ने नरेंद्र मोदी को बहुत ताकतवर और अपने दल की केंद्रीय नीति से टकराते हुए चलनेवाला ही नहीं भारतीय संघ की संवैधानिक संस्थाओं और बुनियादी मान्यताओं से भी निरंतर टकरानेवाली 'गुजराती अस्मिता' के प्रतीक नेता के रूप में सफलतापूर्वक उभारा। केशु भाई पटेल के सामने 'विनीत' होने और हिरेन पांड्या के मामले में अपने दल के 'केंद्रीय हस्तक्षेप'

को दृढ़तापूर्वक ‘नकारने’ की प्रतीति कराकर नरेंद्र मोदी को ‘गुजराती अस्मिता’ का प्रतीक बनाने में भारतीय जनता पार्टी कामयाब रही। ऊपर से सांप्रदायिक दीखनेवाला यह ध्रुवीकरण अपने बनाव की नाभिकीयता में प्रदेशवाद के विषाणु से भी ग्रस्त रहा है। विचार किया जाना चाहिए कि संप्रदायवादी ध्रुवीकरण के लिए सवर्ण चेतना और प्रदेशवादी ध्रुवीकरण के लिए गैर-सवर्ण चेतना के संगठन का इस ध्रुवीकरण में कितना योगदान रहा है। प्रसंगवश, शिवसेना के राजनीतिक उभार में ‘हिंदुत्व’ और ‘मराठी अस्मिता’ के मिश्रण को सक्रिय बनाने की राजनीतिक प्रक्रिया को भी याद किया जा सकता है। काँग्रेस इस प्रदेशवाद के मर्म को ठीक से समझ ही नहीं पाई। काँग्रेस अपने सांगठनिक ढाँचा के अतिकेंद्रित होने के कारण इसे समझकर भी कुछ कर पाने की स्थिति में शायद ही हो पाती।

इस ध्रुवीकरण के संकेत साफ हैं। संस्कृति की कुत्सित समझ से उत्पन्न ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’ के निहित आशय के आधार पर किये जानेवाले कार्यों से भारतीय सामाजिकताओं में नागरिकों के बीच का सामाजिक संतुलन और भारतीय राज्यों/ प्रांतों में एकात्मकता और संघात्मकता के बीच का राजनीतिक संतुलन बिगड़ रहा है। संघात्मकता हमारे राजनीतिक गठन का अनिवार्य अंग है। दुखद यह है कि ऊपर से संघात्मकता की ओर बढ़ती हुई दीखनेवाली यह गत्यात्मकता भीतर से संघहीनता की ओर ही तेजी से बढ़ती है। ध्यान में रखना चाहिए कि जैसे धर्म के नाम पर संप्रदायवाद से उत्पन्न धर्महीनता फैलती है वैसे ही संघात्मकता के नाम पर प्रदेशवाद से उत्पन्न संघहीनता फैल सकती है। राजनीतिक गठन के संघहीन होते जाने से बने वातावरण में सामाजिक संघात और अधिक जानलेवा साबित होगा। एकात्मकता और संघात्मकता को संवादी बनाये रखने में बहुत हद तक कामयाब रहे दिनों में काँग्रेस राजनीतिक प्रासंगिकता के शिखर पर रही है। लेकिन, काँग्रेस का अतिकेंद्रित वर्तमान सांगठनिक ढाँचा भारतीय राज्य की बुनियाद में संघहीनता के प्रदूषण के प्रवेश को रोक पाने में पूरी तरह से सक्षम

प्रतीत नहीं होता है। अप्रासंगिकता के गर्त में काँग्रेस के गिर जाने से ऊपजी राजनीतिक शून्यता को भर पाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे वैकल्पिक सांगठनिक ढाँचे की जरूरत है जो अपने आंतरिक गठन में एकात्मक भी हो और संघात्मक भी हो। इस जरूरत को पूरा कर पाने में विफल रहने पर हम किसी शुभ की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इस जरूरत को भारतीय सामाजिकताओं की पारंपरिक सहिष्णुता से हासिल नागरिक धैर्य के सतत सक्रिय समर्थन से ही पूरा किया जा सकता है।

जो गुजरात में 'प्रदेशवाद' के सहारे हुआ वह पूरे भारत में 'सांसकृतिक राष्ट्रवाद' के सहारे दुहराया जा सकता है। इस 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के बीज 'संप्रदायवाद' और 'प्रदेशवाद' के मिश्रण से तैयार रासायनिक खाद से अँखुआते हैं। इस चुनाव के प्रचार के दौरान 'प्रदेशवाद' को निर्मित करने में 'राष्ट्रवाद' की भी कम मदद नहीं ली गई। अंतरर्राष्ट्रीय संदर्भ में उग्र और अंध राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में विलगावकारी प्रदेशवाद के राजनीतिक चरित के रूप में विकसित करने के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के खतरनाक इरादे को ठीक से पढ़ना जरूरी है। यह सच है कि पूरा भारत गुजरात नहीं है, लेकिन यह ध्यान में रखना ही होगा कि गुजरात भी भारत में ही है। पूरे भारत में इस तरह के ध्रुवीकरण को बनाना आसान नहीं है। चिंता इसलिए होती है कि पिछ्ले कुछ वर्षों में हमारे जनतंत्र में कुछ कठिन काम भी 'आसानी' से कर लिये गये हैं।